होरेस

[६५ ई० पू०—८ ई० पू०]

अरस्तू के निधन के बाद के दो सौ वर्षों में एथेन्स का बौद्धिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष प्रायः समाप्त हो गया और एथेन्स का गौरव सिकंदरिया (मिस्र) को प्राप्त हो गया। पहली शताब्दी ई० पू० में औगुस्तुस (Augustus) के नेतृत्व में रोमी साम्राज्य के उदय के साथ सिकंदरिया का उत्कर्ष भी क्षीण पड़ गया और रोम यूरोपीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, कला आदि का केंद्र बन गया। आतरिक विग्रह को निर्मूल कर औगुस्तुस ने एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण किया जिसका प्रभाव मध्ययुग (१२वीं-१३वीं शताब्दी) तक सारे यूरोप पर छाया रहा। रोम के इसी प्रभाव और वैभव को लेकर उक्ति चल पड़ी कि "सारे मार्ग रोम को जाते हैं" (All roads lead to Rome)। इसी प्रभाव के फलस्वरूप लैटिन शताब्दियों तक यूरोप के ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति, धर्म-राजनीति की भाषा बनी रही।

होरेस (Horace) औगुस्तुस के समसामयिक थे और सम्राट् के निकटस्थ भी। स्वभावतः वे उस गौरव के द्रष्टा ही नहीं, भोक्ता भी थे। होरेस के विषय में प्रसिद्धि है कि वे रोमी कवियों में सर्वश्रेष्ठ आलोचक और रोमी आलोचकों में सर्वश्रेष्ठ कवि थे। कवि और आलोचक का यह दूसरा वैशिष्ट्य होरेस के महत्त्व का अन्यतम कारण था।

एथेन्स की सशक्त सर्जनशीलता का रोम में अभाव था। न तो उसमें एथेन्स जैसी चिंतनशीलता थी, न कल्पनाशीलता और न मौलिक, वैचारिक समृद्धि। रोम-निवासी प्रकृत्या व्यावहारिक जीव थे; वे उद्भावक नहीं, व्यवस्थापक थे; अनुसंधाता नहीं, अनुकर्ता थे। इसलिए यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से एथेन्स उनके अधिकार में था किंतु बौद्धिक-सांस्कृतिक दृष्टि से वे ही एथेन्स के अधिकार में थे। इस विरोधाभास पर होरेस की टिप्पणी है कि "बंदी यूनान ने अपने भयानक विजेताओं को बंदी बना लिया।" सिसेरो का निम्नलिखित कथन तद्युगीन रोम की मनोवृत्ति को स्पष्ट कर देता है : "काव्य का उपयोग यह है कि वह काम से आराम देता है और अमरत्व प्रदान करने की आशा के द्वारा देशभक्ति-संबंधी वीरता को जगाता है।" काव्य की इतनी सी उपयोगिता मानने वाले समाज में असाधारण प्रातिभ उन्मेष की आशा दुराशामात्र है।

सम्राट् औगुस्तुस काव्य और कला के संरक्षक तथा प्रेरक थे। उन्हें साहित्य का

विकास अभिमत था किंतु वैसे साहित्य का, जिसमें राष्ट्र का गुणगान हो अथवा जिससे सम्राट् के कार्यकलाप का प्रशस्ति-विस्तार हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सीमित प्रयोजन को लक्ष्य मानकर चलनेवाला साहित्य महान् नहीं हो सकता। इसलिए रोमी लेखक यूनानी लेखकों द्वारा प्रस्तुत काव्य की विधाओं या ढांचों में ही यत्किंचित् परिवर्तन कर पाये। उन्होंने व्यंग्य (satire), पत्र (epistle), चतुर्दशपदी (sonnet), शोकगीत (elegy), ग्वालगीत (pastoral), सूक्ति (epigram), जैसी कुछ विधाएं विकसित कीं अवश्य पर उनमें वह असाधारणता नहीं आ सकी जो साहित्य को क्लासिकी महिमा प्रदान करती है। नाटकों की भी स्थिति बहुत कुछ यही रही।

होरेस इसी देश-काल की उपज थे। प्रतिभाशाली होते हुए भी वे समसामयिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सके। उनकी दो व्यंग्य-परक कृतियां, चार संबोध-गीतियां (odes) और दो पत्रात्मक पुस्तकें उपलब्ध हैं। पत्रात्मक पुस्तकों में से ही एक उनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचना है जिसका लैटिन नाम 'आर्स पोएतिका' (Ars Poetica) है। इस पुस्तक का वास्तविक नाम Epistola ad Pisones (Epistle to the Pisos) है; 'आर्स पोएतिका' नाम प्रसिद्ध आलोचक क्विन्तिलियन (Quintilian) का दिया हुआ है। उन्होंने ही इसे पहले पहल 'आर्स पोएतिका' (काव्य की कला) की संज्ञा से अभिहित किया। क्विन्तिलियन (३५ ई०-९५ ई०) रोम के मूल निवासी नहीं थे; वे जन्मना स्पेनी थे किंतु कुछ दिनों तक रोम में शिक्षा पाने के बाद वे वहीं भाषणशास्त्र के राजकीय आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और प्रायः बीस वर्षों तक उस पद पर बने रहे। आर्स पोएतिका 'पिसो' नामक एक युवक के नाम पद्य में लिखित पत्र है, जिसमें ४७६ पंक्तियां हैं। पिसो संभवतः लेखक बनना चाहता था; उसने अपने युग के सबसे बड़े साहित्यकार का मार्ग-दर्शन चाहा जो उसे इस पत्र के द्वारा मिला। पत्र में पिसो के पिता और छोटे भाई का भी उल्लेख है, जो कविकर्म में रुचि रखते थे।

पत्रात्मक होने के कारण इस रचना की कई सीमाएं हैं: यह अतिसंक्षिप्त है, अतः काव्यशास्त्र के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का इसमें उल्लेख भी नहीं है। दूसरी चीज यह कि इसमें व्यवस्था और विवेचनात्मक गंभीरता का अभाव है। कुछ व्यावहारिक सुझाव या परामर्श देना ही लेख का लक्ष्य रहा है। पत्र में इससे अधिक संभव भी नहीं था। फिर भी, इसकी उक्तियां सूक्तियों के समान सारगर्भ, स्मरणीय और उद्धरणीय हैं। आर्स पोएतिका यूरोप के नवशास्त्रवादी युग (१६-१८वीं शताब्दी) में लेखकों का कंठहार रहा और उसे वही मान्यता प्राप्त थी जो अरस्तू के काव्य-शास्त्र को; बल्कि संक्षिप्त, चुटीली उक्तियों के कारण उद्धरण अधिकतर 'आर्स पोएतिका' के ही लोकप्रिय थे।

इस व्यवस्थाहीन कृति में भी विद्वानों ने व्यवस्था देखने का प्रयास किया है। उनके अनुसार मुख्यतः आर्स पोएतिका में परंपरागत तीन विषयों का निरूपण है—विषयवस्तु (poiesis), रूप (Poiema) और कवि (poieta); रूप में काव्यशैली

भी गतार्थ है। दूसरे शब्दों में कहें कि काव्य, काव्यशैली और कवि, ये तीन आर्स पोएतिका के प्रतिपाद्य हैं। इसमें भी काव्य के अंतर्गत मुख्य विचार नाटक का ही हुआ है; अन्य विधाओं की चर्चा प्रायः नहीं है।

होरेस के समय में रोम के कवियों के सामने दो विकल्प थे। एक ओर यूनान का विकसित-समृद्ध साहित्यिक दाय था और दूसरी ओर, साम्राज्य-विस्तार से प्राप्त अतुल शक्ति और संपत्ति, शांति और उन्नति के अनुरूप अपनी भाषा (लैटिन) में राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का आग्रह था। गुण में यूनानी साहित्य इतना उत्कृष्ट और प्रभिभावी था कि उसे छोड़ना कठिन था और राष्ट्रीय चेतना से उद्भूत गौरव-बोध इतना दुर्दम था कि अपनी भाषा की उपेक्षा अप्रीतिकर थी। दोनों के बीच समन्वय का मार्ग यह निकला कि आदर्श या ढांचा तो यूनानी का रहा किंतु भाषा अपनी (लैटिन) रही। यूनानी परंपरा के पुनरुज्जीवन में महाकवि वर्जिल (७०-१९ ई० पू०) और कवि-आलोचक होरेस एकमत थे। होरेस का यूनानी साहित्य के प्रति कितना पक्षपात था, यह उनके इस उद्धरण में अभिव्यक्त है : "मेरे मित्रो ! यूनान के महान् मूल ग्रंथों का अध्ययन करो; दिन में उनका चिंतन करो और रात में उनका सपना देखो !" ठीक ही "विजेता रोम को पराजित यूनान ने पराजित कर दिया !"

यहां 'आर्स पोएतिका' (काव्यकला) में निरूपित विषयों की संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। आर्स पोएतिका का आरंभ इस प्रकार होता है :

"यदि कोई चित्रकार मनुष्य के सिर में घोड़े की गर्दन जोड़ दे; सब प्रकार के जंतुओं के अंगों को एकत्र कर उनमें किस्म-किस्म के पंख लगा दे; और, ऊपरी हिस्से में सुंदर नारी का रूप अंकित कर निचले हिस्से में भद्दी मछली बना दे तो मेरे मित्रो ! क्या इन्हें देखकर आप अपनी हंसी रोक पाएंगे ?"

"पिसो-परिवार के मेरे दोस्तो ! ऐसे चित्र उस कविता से अधिक बुरे नहीं होंगे जिनमें रुग्ण व्यक्ति के स्वप्नों की तरह खोखले बिंबों की योजना हुई हो; अतः न तो उसके सिर का पता चले, न पैर का !"

इस हलके-फुलके अंदाज से आलोचना का आरंभ करने वाले होरेस के स्वभाव की थोड़ी झांकी मिलती है, जिनमें व्यंग्य और विनोद दोनों का पुट है। "आप कह सकते हैं कि कवि स्वच्छंद होते हैं और उन्हें इच्छानुसार कुछ कहने की पर्याप्त छूट है। मुझे भी यह मालूम है और मैं भी यह छूट देने को तैयार हूं, किंतु जंगली को पालतू के पास, सांप को चिड़िया के पास और बाघ को मेमने के पास बैठाने की छूट मैं नहीं दे सकता। देखने में आता है कि कोई रचना आरंभ में बड़ी गरिमा और संभावना की आशा जगाती है किंतु आगे चलकर वह शिथिल पड़ जाती है क्योंकि लेखक उसका निर्वाह नहीं कर पाता। इसलिए रचना की पहली अपेक्षा है कि विषय सरल और समंजस हो। लेखक सोचता है कि वह जो लिख रहा है, बिलकुल ठीक है किंतु संक्षेपण के प्रयास में अस्पष्टता आ जाती है, मधुरता के आग्रह में ओज तथा स्फूर्ति नष्ट हो जाती है और भव्यता की आकांक्षा वागाडम्बर में परिणत हो जाती है।"

"प्यारे लेखको ! विषय ऐसा चुनो जो तुम्हारी क्षमता के अनुरूप हो। अच्छी

तरह सोच लो कि तुम्हारे कंधे कितना बोझ उठा सकते हैं। जो समझ-बूझकर विषय चुनता है उसे न तो शब्दों की कमी होती है और न उनके यथावत् विन्यास में कोई त्रुटि होती है। शब्द-विन्यास का सौंदर्य और आकर्षण इसमें है कि जो जहां रहना चाहिए, वहीं रहे; यहां की चीज यहां और बाद की चीज बाद में।"

"लेखक को काव्यगत शब्दों के परस्पर संयोजन में सुरुचि और सावधानी से काम लेना चाहिए। निपुण संयोजन से परिचित शब्द भी मौलिक प्रतीत होने लगते हैं। यदि नये शब्दों को गढ़े बिना गुप्त रहस्यों (गूढ़ अर्थों) की अभिव्यक्ति न होती हो तो नये शब्द गढ़ने में कोई क्षति नहीं है किंतु इसमें मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए अन्यथा नव-निर्मित शब्दों का आधिक्य अपरिचय के कारण अर्थ को धूमिल कर देगा। नये शब्दों के निर्माण में यूनानी स्रोत का उपयोग उनके प्रचलन में सहायक होगा।"

"शब्दों की स्थिति वृक्ष के पत्तों की है। जैसे पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, वैसे पुराने शब्द भी प्रयोग से बहिष्कृत होकर नष्ट हो जाते हैं और नये पत्तों की तरह नये शब्द विकसित होकर पूरी सजधज से प्रकट हो उठते हैं। बहुत बार प्रयोग-बहिष्कृत शब्द फिर से प्रचलन में आ जाते हैं और आज जो शब्द प्रचलित हैं, वे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं। शब्द के आविर्भाव-तिरोभाव का यह क्रम निरंतर चलता रहता है। व्यवहार या प्रयोग ही भाषा का नियामक, शासक तथा मानक है। अतः कवि को सर्वथा प्रयोग-परायण होना चाहिए।"

"छंद का वर्ण्य विषय के साथ घनिष्ठ संबंध है, यह होमर ने अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया है। शोक, आनंद या शौर्य की अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप छंद का ही प्रयोग करना चाहिए; हर्ष-व्यंजक छंद से शोक की व्यंजना और शोक-व्यंजक छंद से हर्ष की व्यंजना सफल नहीं होगी। तात्पर्य कि सत्कवि को विषय और छंद की संगति का ध्यान रखना आवश्यक है।"

"कविता में केवल सौंदर्य का होना ही पर्याप्त नहीं है; उसमें आह्लादन की साथ ही, श्रोता की आत्मा को यथेप्सित दिशा में ले जाने की, क्षमता भी होनी चाहिए। मनुष्य के चेहरे मुस्कान देखकर खिल उठते हैं और रुदन देखकर खिन्न हो जाते हैं। इसलिए जो कवि शोक का भाव उत्पन्न करना चाहता है, उसे पहले अपने भीतर शोक को उद्दीप्त करना होगा। यदि वक्ता के शब्द मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं तो रोम के द्रष्टा या श्रोता, चाहे वे उच्च हों या निम्न, अट्टहास कर उठेंगे।"

"कथानक के लिए या तो परंपरा का अनुगमन करो या सुसंगत कथानक की उद्भावना करो। परंपरा-प्रसिद्ध पात्र पूर्व-परिचित होते हैं; अतः उनके चित्रण में उनके स्वभावगत वैशिष्ट्य का ध्यान रखना उचित है।" (उदाहरणार्थ, राम की धीरता-गंभीरता और लक्ष्मण की उग्रता-असहिष्णुता ही परंपरा-प्रसिद्ध है। इसके विपरीत वर्णन प्रभाव को खंडित कर देगा; जैसे, राम को उग्र या असहिष्णु और लक्ष्मण को धीर-गंभीर चित्रित करना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार युधिष्ठिर को प्रचंड और

भीम को शांत चित्रित करना भी समीचीन नहीं होगा।)

"यदि नाटक के लिए नया कथानक चुनते हो और नये पात्रों की सृष्टि करते हो तो उनकी चारित्रिक विशेषताओं को आरंभ से अंत तक कायम रखो। यदि परिचित विषय चुनते हो तो भी ठीक। दृष्टपूर्व विषय भी सत्कवि के हाथ में पड़कर चमक उठते हैं।" (आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि रस की योजना से दृष्टपूर्व विषय भी, वसंत ऋतु के वृक्ष की तरह, नये रूप-लावण्य से दमक उठते हैं।) इसलिए विषय का महत्त्व उतना नहीं, जितना उसके उपस्थापन की कला का है। "कवि में क्षमता ऐसी होनी चाहिये कि प्रकाश से धुआं उत्पन्न करने के बदले, धुएं से प्रकाश उत्पन्न कर दे।"

"नाटक में कुछ घटनाओं का प्रदर्शन होता है और कुछ का केवल वर्णन अर्थात् कुछ घटनाएं दृश्य होती हैं और कुछ सूच्य। जो घटनाएं प्रदर्शन के उपयुक्त न हों, उनका वर्णन ही उचित है, अन्यथा वे या तो अविश्वसनीय बन जाएंगी या उद्वेजक। अविश्वसनीय (जैसे, समुद्र-लंघन) तथा उद्वेजक (जैसे, वध आदि) का वर्णन ही होना चाहिये, प्रदर्शन नहीं। (भारतीय नाट्यशास्त्र मे भी ऐसी घटनाओं का वर्णन ही विहित है।) नाटक में केवल पांच अंक होने चाहिये, न अधिक, न कम। किसी दैवी हस्तक्षेप का तब तक उपयोग नहीं करना चाहिये, जब तक उसके बिना समस्या का समाधान होता न दीखे। एक बार तीन से अधिक पात्र मंच पर संभाषण करते न दिखाए जाएं। कोरस (गायकदल) भी एक ही अभिनेता का कार्य करता दिखायी दे और उसका गान भी कथानक की प्रगति में योगदान करने वाला हो। तात्पर्य कि गायकदल की अनेकता का प्रभाव विच्छिन्न न होकर एकीभूत रहे और उसका गान भी कथानक से संबद्ध हो।"

"नाटक में भाषा ऐसी प्रयुक्त होनी चाहिये जो न तो ग्राम्य हो और न अभिजनोचित, क्योंकि ग्राम्य भाषा अभिजनों को रुचिकर नहीं होगी और परिष्कृत भाषा अशिक्षितों की समझ में नहीं आएगी। नाटक दोनों श्रेणी के दर्शकों के लिए खेला जाता है। इसलिए दोनों की रुचि और शक्ति का ध्यान रखना आवश्यक है।" "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्"—कालिदास की यह उक्ति होरेस के उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है।

"पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंचने के पहले कविता का बार-बार संशोधन-परिवर्तन आवश्यक है। जो कविता लंबी अवधि तक संशोधित-परिमार्जित न हुई हो, दस बार कटी-छंटी न हो, वह प्रशस्य नहीं होती।"

"देमोक्रितुस की धारणा है कि कला (व्युत्पत्ति) की अपेक्षा प्रतिभा का प्रकर्ष बड़ा है। अतः बहुसंख्यक भावी कवि (अपने को प्रतिभाशाली प्रमाणित करने के लिए) नाखून नहीं काटते, दाढ़ी नहीं बनाते, स्नान नहीं करते और एकांत ढूंढ़ते हैं।" (होरेस के इस कथन से पता चलता है कि कवियों का यह ढब और ढंग काफी पुराना है।)

"अच्छे लेखन का आधार और स्रोत स्वस्थ चिंतन है, (नाखून या दाढ़ी बढ़ाना

नहीं)। व्युत्पन्न लेखक को जीवन और वास्तविक व्यवहार से अपना विषय चुनना चाहिये; भाषा का सच्चा रूप भी वहीं मिलेगा।" (काव्य में लोक-प्रचलित भाषा के प्रयोग का यह संकेत आगे के दांते, वर्ड्सवर्थ, इलियट आदि कवियों ने अनेकशः दुहराया है।)

"धन के लोभ से रचित कविता कभी स्थायित्व नहीं प्राप्त करती।"

"कवि या तो उपदेश देना चाहते हैं या आनंद या दोनों।"

"कोई नैतिक सूत्र संक्षिप्त होना चाहिये; तभी मन उसे सुगमता से ग्रहण करेगा। कल्पित कथानक सत्य के निकट होना चाहिये जिससे उसके लिए असीम विश्वास की आवश्यकता न पड़े। बुजुर्ग नागरिकों को शिक्षा-हीन नाटक पसंद नहीं; गर्ममिजाज सामंतों को नीरस और शिथिल कविता पसंद नहीं। ऐसी स्थिति में वैसी ही रचना सबों को रुचिकर लग सकती है जिसमें आनंद और उपदेश, दोनों का समन्वय हो। ऐसी ही कविता प्रकाशक के लिए लाभकारी होती है, समुद्र के पार पहुंचती है और लेखक को अमर बनाती है।"

"यदि कोई कविता अतिशय चमत्कृतिपूर्ण हो तो उसमें विद्यमान कुछ दोषों को भी मैं बुरा नहीं मानूंगा क्योंकि असावधानी या भूल मनुष्य का प्रकृतिगत धर्म है।"

"कविता की स्थिति तस्वीर की है जो कभी तो पास से अच्छी लगती है और कभी दूर से; कभी उसके लिए मद्धिम रोशनी अच्छी होती है और कभी तेज। किसी कविता को एक बार सुनना काफी होता है और किसी को दस बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती।"

"मन में गांठ बांध लो कि देवों, मनुष्यों तथा पुस्तक-विक्रेताओं द्वारा कवियों के लिए मध्यमता (mediocrity) निषिद्ध है। जिस तरह किसी अच्छी दावत में बेसुरा संगीत या भद्दी खुशबू अच्छी नहीं लगती, उसी तरह कोई कविता, जिसका गुण मन को मोहित करना है, यदि उत्तम नहीं होती, तो अधम बन जाती है।"

"जब तक मन में रचना की प्रेरणा न जगे तब तक कुछ न लिखो और लिखने के बाद सबसे पहले उसे किसी आलोचक को दिखाओ। फिर, उस पन्ने को अपने दराज में नव वर्षों के लिए बंद कर दो। यदि दीर्घ अंतराल के बाद भी वह रचना रमणीय प्रतीत होती है तो उसे प्रकाशित करो। जो प्रकाशित नहीं है, उसे नष्ट कर देना हमेशा संभव है, लेकिन जो चीज एक बार लोगों के सामने आ गयी उसको लौटाना संभव नहीं; उसके साथ लगा यश-अयश स्थायी बन जाता है।"

आचार्य भामह की उक्ति ध्यान देने योग्य है :—कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न रोग, न दंड, किंतु कुकविता तो साक्षात् मरण है :

> नाकवित्वमधर्माय व्याधये दंडनाय वा।
> कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ काव्यालंकार, १-१२

"लोग पूछते हैं कि प्रतिभाजन्य कविता यशस्कर होती है या व्युत्पत्तिजन्य। मैं नहीं समझता कि बिना प्रतिभा के अध्ययन अथवा बिना शिक्षा के नैपुण्य कैसे लाभकर होगा ?"

"जिस व्यक्ति का तुमने उपकार किया हो या जो प्रकृत्या चाटुकार हो, उसकी राय रचना के संबंध में न लो, क्योंकि वह तो 'शाबास ! कमाल ! अद्वितीय !', आदि ही कहेगा। यदि किसी के बताने पर भी तुम अपने दोष का समाधान करते हो तो दोनों का श्रम निरर्थक होता है। सच्चे प्रशंसक की अपेक्षा झूठा प्रशंसक अपने उद्‌गार में अधिक उदार होता है। ईमानदार और बुद्धिमान् व्यक्ति निर्जीव रचना की निंदा करेगा, नीरस पंक्तियों में दोष दिखाएगा, असुंदर पंक्तियों पर स्याही फेर देगा, अनपेक्षित अलंकार को काट देगा, अस्पष्ट अंश को स्पष्ट करने के लिए बाध्य करेगा, संदिग्धार्थता की ओर संकेत करेगा, परिवर्तनीय स्थल को चिह्नित करेगा। वह यह नहीं कहेगा कि 'छोटी बात के लिए मित्र को क्यों अप्रसन्न करें ?' छोटी त्रुटियां ही गंभीर बनकर उपहास का कारण हुआ करती हैं।"

निष्कर्ष

होरेस की आलोचना-विषयक मान्यताओं को कुछ हद तक उन्हीं के अंदाज-ए-बयां में हमने ऊपर प्रस्तुत किया है। उनका सार इस प्रकार है :

१. काव्य का विषय **सरल, समंजस** और कवि की **शक्ति के अनुरूप** होना चाहिये। सरल से तात्पर्य ऐसे विषय से है जो परिचित हो। समंजस वह है जिसमें कोई अनपेक्षित या असंबद्ध अंश न हो।

२. **शब्द-संयोजन** में **सुरुचि** और **सावधानी** से काम लेना चाहिये जिससे पुराने शब्द भी प्रयोग-नैपुण्य से नये जैसे लगें। कभी प्रचलित शब्द भी पुराने पड़कर प्रयोग-बहिष्कृत हो जाते हैं; कभी प्रयोग-बहिष्कृत शब्द फिर से प्रचलन में आ जाते हैं; नये शब्द भी उत्पन्न होते रहते हैं। यदि उपलब्ध शब्दों से काम चलता न दिखायी दे तो नये शब्दों का निर्माण कर लेना चाहिये। निर्माण के लिए **यूनानी-स्रोत** श्रेष्ठ है। **प्रयोग** भाषा की अर्थवत्ता तथा शक्तिमत्ता का सबसे बड़ा आधार है।

३. **छंद** का **वर्ण्य विषय** से **घनिष्ठ संबंध** है। हर छंद से हर भाव अभिव्यक्त नहीं होता। किस भाव के लिए कौन सा छंद उपयुक्त होगा, इसके लिए प्राचीन कवियों के प्रयोग को प्रमाण मानना चाहिये।

४. काव्य में केवल **सौंदर्य** की सत्ता ही काफी नहीं है; उसमें श्रोता को **भाव-मग्न** करने की भी क्षमता होनी चाहिये और यह तभी संभव है जब कवि उस भाव में स्वयं भावित हुआ हो।

५. नाटक का **कथानक** या तो **प्रसिद्ध** (परंपरा-प्राप्त) हो सकता है या **कल्पित**। इन दोनों में, कथानक चाहे जैसा भी हो, आरंभ से अंत तक **सामंजस्य** होना चाहिये। यही बात नाटकीय पात्रों के संबंध में भी याद रखनी चाहिये।

६. नाटक में कुछ घटनाएं **दृश्य** होती हैं और कुछ **सूच्य**। अरुचिकर, उद्वेजक आदि घटनाएं सूच्य रूप में ही प्रस्तुत की जानी चाहिये।

७. नाटक की **भाषा सर्वजन-सुलभ** होनी चाहिये। अरस्तू के शब्दों में "निम्न हुए बिना स्पष्ट"।

८. रचना का बार-बार संशोधन-परिमार्जन आवश्यक है। इसके बिना रचना में निखार नहीं आता।

९. उत्तम काव्य की निष्पत्ति के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, तीनों अनिवार्य हैं। इनमें भी अभ्यास का महत्त्व सर्वाधिक है।

१०. उत्कृष्ट काव्य स्वस्थ चिंतन से प्रसूत होता है।

११. काव्य का प्रयोजन न तो कोरा उपदेश होना चाहिये और न केवल आनंद, बल्कि उपदेश और आनंद का समन्वय।

१२. सर्वथा निर्दोष काव्य विरल होता है। इसलिए कुछ दोषों के कारण ही किसी काव्य को हेय नहीं कह देना चाहिये।

१३. कोई काव्य सुखबोध्य होता है और कोई श्रम-बोध्य। काल-भेद से उसके आस्वादन-प्रकार में भी भेद हुआ करता है।

१४. काव्य हमेशा उत्तम ही होना चाहिये। मध्यम काव्य नाम की कोई चीज नहीं होती। जो काव्य उत्तम नहीं, वह अधम है।

१५. जब तक रचना की इच्छा न हो अर्थात् रचना की अंतःप्रेरणा न हो, तब तक रचना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

१६. रचना के प्रकाशन में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। जल्दबाजी में प्रकाशित रचना से यश के बदले अयश होता है।

१७. रचना पर आलोचक की राय लेनी चाहिए। यदि वह दोष बताए तो समाधान के बदले उसका निवारण करना चाहिए।

१८. उपकृत या अनुगृहीत प्रशंसक की प्रशंसा को महत्त्व नहीं देना चाहिए। वह प्रशंसा के बदले चाटुकारी करता है।

मूल्यांकन

१. होरेस की आलोचना पर, जैसा स्वाभाविक है, अनुकूल तथा प्रतिकूल, दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएं हुई हैं। यदि दो बातों पर ध्यान रखें तो उनका मूल्यांकन अधिक संगत और वस्तुनिष्ठ होगा। एक है 'आर्स पोएतिका' की रचना का प्रयोजन और दूसरा, उसका अधिकारी। हमने देखा है कि आर्स पोएतिका लेखक का दिया नाम नहीं है। वस्तुतः इस नाम से हमारी अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। 'काव्यकला' पर लिखी पुस्तक से हम काव्य-संबंधी सांगोपांग या व्यापक विचार की आशा करते हैं। उस समय यह बात हमारे ध्यान से ओझल हो जाती है कि यह स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, बल्कि केवल एक पत्र है जिसका प्रयोजन है काव्य-रचना-विषयक केवल व्यावहारिक, उपयोगी सुझाव देना और उसका अधिकारी है काव्यपथ का एक नया पथिक। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखें तो हम यथार्थ के अधिक निकट होंगे।

२. आर्स पोएतिका के पाठक को उसकी अपूर्णता, असंबद्धता, अगंभीरता आदि खटकती है पर इन सब का संबंध कृति की विधा से है। पत्र में बातें उसी क्रम से आती हैं जिस क्रम से वे मन में उदित होती हैं; अतः पौर्वापर्य का पत्र में क्रम बहुधा

बाधित हो जाया करता है। फिर, लेखन जैसे विषय पर पत्र में कतिपय संकेत ही दिये जा सकते हैं, विस्तृत या पूर्ण निरूपण नहीं हो सकता।

३. यद्यपि होरेस ने अरस्तू का कहीं नाम नहीं लिया है किंतु अरस्तू का प्रभाव उन पर हमेशा हावी रहता है। यों, अरस्तू और होरेस में कई स्पष्ट भेद हैं: (क) अरस्तू की आलोचना वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक है; होरेस की निर्देशात्मक (prescriptive)। अरस्तू कहते हैं कि 'ऐसा है' या 'ऐसा होता है'; होरेस कहते हैं कि 'ऐसा होना चाहिए'। (ख) अरस्तू आलोचक की दृष्टि से काव्य पर विचार करते हैं; होरेस रचनाकार की दृष्टि से। अरस्तू की शास्त्रीय, वैज्ञानिक और अंतर्भेदी दृष्टि का होरेस में अभाव है। होरेस का क्षेत्र संकुचित और सतही है। (ग) अरस्तू की आलोचना में पद्धति का वैशिष्ट्य है; इसलिए उससे आज भी नयी आलोचना-सरणियों का विकास हो रहा है। होरेस की आलोचना में पद्धति जैसी कोई वस्तु नहीं है; वह प्रकीर्ण, प्रचलित सिद्धांतों अथवा तथ्यों का संग्रह है।

४. प्लेटो ने काव्य की सार्थकता नैतिक-शैक्षिक मूल्यों में मानी थी; अरस्तू ने आनंद की महत्ता स्थापित की थी। होरेस ने दोनों के बीच समन्वय का मार्ग अपना कर काव्य के प्रयोजन के अंतर्गत शिक्षा और आनंद दोनों का समाहार कर दिया।

५. होरेस इसके लिए श्रेय के अधिकारी हैं कि उन्होंने काव्यालोचन की स्वायत्तता कायम रखते हुए शुद्ध आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत किया और आलोचना को किसी दूसरे अनुशासन का अंग या आश्रित नहीं बनाया।

६. जॉर्ज सेन्ट्सबरी के अनुसार आर्स पोएतिका का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उसमें रोमी युग के साहित्य की आलोचनात्मक धारणा की स्पष्ट झांकी मिलती है।

६. अनुकरण शब्द का प्रयोग होरेस ने भी किया है किंतु अरस्तू से सर्वथा भिन्न अर्थ में। होरेस के अनुसार अनुकरण का अर्थ है प्राचीन कवियों के आदर्शों और मान्यताओं का अनुकरण। एक शब्द में कहें तो प्राचीनों का अनुकरण ही वास्तविक अनुकरण है। प्रकृति, दर्शन आदि के झमेले में न पड़कर होरेस ने अनुकरण का सीधा, सुबोध अर्थ ग्रहण किया है।

८. होरेस के मन में औचित्य (decorum/propriety) काव्यरचना का प्रधान गुण है। विषय, भाव, भाषा, छंद, सर्वत्र वे औचित्य के आग्रही हैं। औचित्य शास्त्रवाद का एक प्रकार से अभिन्न सहचर है। कालांतर में उसी से रूढ़ियों का जन्म होता है। नाटक का आकार मर्यादित होना चाहिए, यह ठीक है, क्योंकि अतिविस्तार से वह ऊब पैदा करेगा और अतिसंक्षेप से उसका प्रभाव आहत होगा किंतु जब होरेस यह कहते हैं कि "अंक पांच ही हों, न अधिक, न कम" तो यह रूढ़ि हो गयी। प्रेक्षकों का ध्यान बंट न जाए, इसके लिए मंच पर तीन पात्रों का होना संगत है मगर चार पात्र कभी हों ही नहीं, यह रूढ़ि है। आवश्यकता पड़ने पर तीन से अधिक पात्रों के भी मंच पर आने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए औचित्य रूढ़ि में परिणत न हो जाए, इसका ध्यान रखना चाहिए। होरेस का औचित्य बहुधा रूढ़ि में परिणत हो गया है।

९. नये रचनाकारों के लिए होरेस के सिद्धांत निश्चय ही बड़े उपादेय और सहायक हैं। उनका अनुगमन कर कोई सहज ही स्खलन से बच सकता है। इस दृष्टि से उनके सिद्धांतों की प्रासंगिकता अक्षुण्ण कही जाएगी। होरेस की लोकप्रियता और मान्यता का यह बहुत बड़ा कारण रहा है।

१०. यद्यपि होरेस यूनानी साहित्य के प्रबल प्रशंसक तथा समर्थक हैं, आदर्श के रूप में यूनानी साहित्य को सदा सामने रखने की सिफारिश भी करते हैं किंतु राष्ट्रीय साहित्य की कीमत पर नहीं। उनका कहना है कि कला और शिल्प में यूनान को आदर्श मानो पर अपनी भाषा में अधिक से अधिक मौलिक साहित्य रच कर राष्ट्रीय भंडार को भरो। "यदि यूनानी भी मौलिकता से परहेज करते तो हमें उनके जैसा अभिजात साहित्य कहां से मिलता ?" होरेस लैटिन साहित्य में यूनानी साहित्य की श्री और समृद्धि लाना चाहते हैं।

११. काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास में प्रतिभा का महत्त्व मानते हुए भी होरेस व्युत्पत्ति और अभ्यास को अधिक उपादेय समझते हैं। श्रम का उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व है।

१२. होरेस की प्रकृति विनोदी और व्यंग्यप्रिय थी, यह उनके लेखन के अंदाज से जाहिर है। अतः आलोचना के सैद्धांतिक ऊहापोह या गहराइयों में जाने की उनमें प्रवृत्ति नहीं दीखती। वे कवि थे, अतः अपने अनुभव के आधार पर काव्यरचना के लिए उपयोगी सुझाव दे सकते थे। आर्स पोएतिका में उन्होंने यही किया भी है। उनमें कहीं भी क्लिष्टता या अस्पष्टता नहीं है। उनकी चुटीली, संक्षिप्त, सूत्रोपम उक्तियां समझने में सुगम और याद रखने में आसान हैं। पर इसके साथ ही उनमें एक बड़ा दोष यह है कि उनके सिद्धांत-वचन व्यंग्य-विनोदपूर्ण विस्तार और वाग्जाल में छिप जाते हैं; उनका मनमौजीपन कभी-कभी उबाऊ और हास्यास्पद बन जाता है। आर्स पोएतिका में यह प्रवृत्ति आरंभ से अंत तक वर्तमान है। यों, उनकी अभिव्यंजना में अपेक्षित सफाई-सुथराई है, और कथन-भंगी भी आकर्षक है।

१३. सेन्ट्सबरी का कहना है कि कुछ संदर्भों को छोड़कर होरेस में न तो सप्राणता है, न उमंग, न भाव। कुल मिलाकर आर्स पोएतिका अत्यंत मध्यम (mediocre) कोटि की रचना है। विलियम विमसैट ने अपने इतिहास में सेन्ट्सबरी से असहमति व्यक्त की है। हमारी धारणा है कि सेन्ट्सबरी के विचार अतिरंजित हैं। होरेस पर गंभीरता, मौलिकता और विवेचकता की कमी का आरोप सही हो सकता है किंतु उनमें न तो उमंग या भाव की कमी है और न सप्राणता की ही। हमारा तो यह ख्याल है कि उमंग या भाव के अतिरेक के कारण ही उनमें गंभीरता नहीं आ पायी है। उमंग, भाव-प्रवणता या जिंदादिली में होरेस की समता करने वाले आलोचक कम ही मिलेंगे।

१४. रोमी आलोचकों में होरेस का स्थान निस्संदेह सर्वोच्च है; शास्त्रवादी आलोचकों में अरस्तू के बाद उन्हीं का नाम लिया जाता है किंतु दोनों में तात्त्विक अंतर है : अरस्तू अपनी आभा से चमकते हैं; होरेस अरस्तू की आभा के प्रतिफलन

से। अरस्तू मौलिक उद्भावना में समर्थ हैं; होरेस उद्भावित मार्ग पर आत्मविश्वास से चल सकते हैं और दूसरों को भी सहारा दे सकते हैं। उनकी सबसे उल्लेख्य आलोचनात्मक भूमिका यह है कि उनके प्रभाव से गौथिकवाद (Gothicism) का अतिरेक नियंत्रित रहा; रोमांटिक कल्पना का अतिशय अनुशासित रहा; पुनर्जागरण-युगीन आलोचना को प्रेरणा और दिशा मिली। इंग्लैंड में बेन जॉनसन (१५७३-१६३७ ई०) और फ्रांस में बोइलो (१६३६-१७११ ई०) जैसे उत्कृष्ट आलोचक होरेस के अनुगामी रहे। बोइलो के 'लार पोएतीक' (L'art Poetique) और अलेग्ज़ांडर पोप (१६८८-१७४४ ई०) के 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' में शुद्धता, व्यवस्था, औचित्य, व्युत्पत्ति आदि पर जो बल है, उसके पीछे होरेस का ही प्रभाव है। अरस्तू को छोड़ दें तो अठारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय आलोचना पर होरेस का एकाधिपत्य रहा। शास्त्रवादी आलोचना के प्रतिष्ठापकों और आद्य आचार्यों में उनका स्थान स्थिर तथा सुरक्षित है।